‘मातृभाषाओं’ को स्वीकार करें

‘मातृभाषा’ शब्द भावुकता में इतना डूबा हुआ है कि अक्सर इस पर प्रश्न नहीं उठाए जाते और न ही इसकी जाँच पड़ताल की जाती है। यह वह भाषा है, जिसके प्रति जन्म के साथ ही एक सहज और अनुवांशिक निष्ठा बनी रहती है। शिशुकाल की लोरियां और बाल्यकाल की नटखट शरारतों पर इसी भाषा में डांट-फटकार मिलती है। यदि इस भावनात्मक आवरण को हटा दें, तो जो बचता है, वह एक सामाजिक-राजनीतिक कल्पना ज्यादा रह जाती है, भाषाई कम। आज के वैश्विक युग में भाषाई तरलता बहुत अधिक है। अतः ‘मातृभाषा‘ पर बढ़-चढ़कर बोलने वाले कालभ्रमित कहे जा सकते हैं।

भाषा नाभि से जुड़ी नहीं होती है। यह परिस्थितिजन्य होती है। आप अपने आसपास के वातावरण, गतिशीलता, स्कूली शिक्षा आदि के कारण अलग-अलग भाषाएं सीख जाते हैं।

‘मातृभाषा‘ का अर्थ एक स्थायी और अद्वितीय पहचान देने वाली भाषा से है। यह व्यक्ति की आत्मा में बसी होती है, जबकि बाकी की भाषाएं विदेशी प्रत्यारोपण हैं।

इन सबको देखते हुए सीबीएसई का यह निर्देश सही लगता है कि भारत जैसे बहुभाषी समाज में स्थानीय रूप से सबसे अधिक समझी जाने वाली भाषा को प्राथमिक शिक्षा का माध्यम बनाया जाए। यही व्यावहारिक समाधान है। शिक्षा में मातृभाषाओं को प्राथमिकता देना केवल एक भाषायी या सांस्कृतिक निर्णय नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और शिक्षा के अधिकार की दिशा में एक ठोस कदम है।

अतः राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बहाने थोपी जाने वाली हिंदी का कोई भी अन्य भाषा, उद्देश्य से भटकाने वाली है। ऐसा करना गलत होगा।

‘द इकोनॉमिक्स टाइम्स’ में प्रकाशित संपादकीय पर आधारित। 28 जून, 2025